ISSN 2278-8808 IMPACT FACTOR: 1.38
An International Peer Reviewed
SCHOLARLY RESEARCH JOURNAL
FOR INTERDISCIPLINARY STUDIES

ऋग्वैदिक वर्ण व्यवस्था की सांस्कृतिक विवेचना

Birpal Singh, Ph. D.
Head – Department of Sanskrit
Government College Gonda Aligarh, U.P.-202123

मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त समाज में ही रहता है। सामाज में ही वह जन्म लेता है, बृद्धि को प्राप्त करता हुआ समाज में ही लीन हो जाता है। समाज की उपेक्षा कर वह मनुष्य नहीं हो सकता। समाज एवं सामाजिक नियमों की उपेक्षाकर वह न तो अपनी उन्नति कर सकता है और न ही समाज का। वेदकालीन समाज पितृमूलक समाज था। पिता ही घर का नेता तथा पुरस्कर्ता था। पुत्र–पुत्री, बधू–स्त्री, सब उसकी छत्र–छाया मों अपना सुखद समय ब्यतीत करते थे। पिता केवल पुत्रों को ही शिक्षा नहीं देता था, प्रत्युत पुत्रियों को भी ललित–कला आदि की शिक्षा देकर सुयोग्य गृहणी बनाता है। उपनयन संस्कार के अनन्तर गुरू के सम्मुख जाकर वेदाध्ययन की प्रथा थी। प्राचीन काल में स्त्रियों के भी मौजी बन्धन का उल्लेख मिलता है।

शिक्षा प्राप्त बालिकाओं में से कुछ तो विवाह करके गृहस्थी के कार्य में जुट जाती थीं, परन्तु कतिपय आजन्म ब्रह्मचारिणी बनकर विद्या तथा अध्यात्म की उपासना में अपना जीवन–यापन करती थीं। समाज का प्रत्येक ब्यक्ति पुत्र की उत्पत्ति के लिए देवताओं से प्रार्थना करता था। पुत्र के लिए वैदिक शब्द वीर1 है, जो अवान्तरकाल में 'शौर्य मण्डित ब्यक्ति' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।

ब्यक्ति और समाज परस्पर सम्बद्ध अंग है। ब्यक्ति अंग है और समाज अंगी। समाज का अस्तित्व ब्यक्ति पर ही निर्भर है। ब्यक्ति का आचार, दर्शन, कर्तब्यनिष्ठा और संस्कृत समाज में प्रतिबिम्ब होती है। समाज का मूलरूप ब्यक्ति या व्यष्टि में निहित है। व्यष्टि का ही समन्वित रूप समष्टि है। समष्टि ही समाज है।

प्रत्येक ब्यक्ति को अपनी उन्नति से सन्तुष्ट रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

समाज का उत्थान–पतन, आरोह–अवरोह, उन्नति–अवनति और उत्कर्ष– अपकर्ष ब्यक्ति की चारित्रिक उन्नति अवनति पर निर्भर है। ब्यक्ति की उन्नति का मूल मन्त्र उसका चारित्रिक विकास है। सामाजिक ब्यवस्था के आधार पर ही वर्णों की सृष्टि हुई। शिक्षा एवं धार्मिक अनुष्ठानों का कार्य ब्राह्मणों को दिया गया और रक्षा एवं देश की सुरक्षा का कार्य क्षत्रियों को प्रदान किया गया, अर्थव्यवस्था का समस्त कार्यभार वैश्यों को सौपा गया और समस्त शिल्पकर्म एवं शारीरिक सम्बन्धित कार्य शूद्रों को दिया गया।

इसका विकृत रूप अन्य वर्तमान जातियॉ है। समाज के समन्वित विकास के लिए आवश्यक है कि समाज सभी दृष्टियों से भली–भॉति समुन्नत हो और समाज को सुखी बनाने के लिए धार्मिक, सामाजिक आर्थिक राजनैतिक एवं चारित्रिक सभी पक्षों में उन्नति हो। बेदों में समाज की उन्नति के लिए प्रायः सभी पक्षों का प्रतिपादन है।

समाज को सुखी बनाने के लिए आवश्यक है कि उसमे धार्मिक भावना की जागृति हो, जिससे आस्तिकता, सच्चरित्रता, मानसिक प्रसन्नता और आत्मिक सुख की अनुभुति होती है। धार्मिक–भावना के अभाव में समाज में हिंसा अनाचार और पाप तथा अनैतिकता का माहौल पैदा हो जाता है। अतएव परमात्मा को सर्वब्यापक मानते हुए शुभ कर्म करने का आदेश देता है। मानव जीवन को सुखी बनाने के लिए दो बातों की अधिक आवश्यकता है। आस्तिकता और बृद्धि की शुद्धता ये दोनों कार्य गायत्री मन्त्र से सिद्ध होते हैं– भूर्भुवः स्वः। तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्।।1

गायत्री का अर्थ है– 'गाय' और गाय का अर्थ है– 'प्राण'। शतपथ–ब्राह्मण में कहा गया है कि– ''प्राण वै गायः''1 गयाः प्राणाः गायः एवगायाः तान् त्रायते इति गायत्री। गाय अर्थात् प्राणों की रक्षा करने वाले को गायत्री कहते हैं। गायत्री के जाप से प्राणशक्ति की वृद्धि होती है और शारीरिक तथा बौद्धिक न्यूनता दूर होती है। इसको सावित्री भी कहते हैं। गायत्री मन्त्र सविता या ब्रह्म से सम्बद्ध है। इससे शरीर में सौर–शक्ति की उत्पत्ति है।2 ब्राह्मण–ग्रन्थों में गायत्री को ब्रह्मवर्चस् या ब्रह्मतेज कहा गया है। गायत्री मन्त्र के तीन भाग हैं–

1. ' भूर्भुवः स्वः' इसमें परमात्मा के स्वरूप वर्णन के साथ उसे सच्चिदानन्द कहा गया है।

2. 'तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि'– अर्थात् आनन्द प्राप्ति हेतु परमात्मा के तेज या ज्योति को हृदय में धारण की बात कही गयी है। मन्त्र का यह अंश आस्तिकता और आत्मिक शक्ति को पैदा करता है।

3. मन्त्र का तृतीय अंश 'धियो योनः प्रचोदयात्'– जप के फल को बताता है। ईश्वररूपी मणि को हृदय में धारण करने से उसका प्रकाश बुद्धि को शुद्ध करता है और स्वयं ही बुद्धि सन्मार्ग पर चलने लगती है। इस प्रकार मनुष्य जीवनसुख की ओर अग्रसर होने लगता है।

ऋग्वेद के छठें मण्डल में मन्त्रद्रष्टा ऋषि परमेश्वर से सदा प्रसन्नचित्त रहने और दीर्घायु की कामना की है, जो सामाजिक उदारता का द्योतक है। श्रीमद्भगवद्गीता में महामहिम भगवान् श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि– जब मनुष्य का मन राग–द्वेष से रहित होता हे ओर इन्द्रियों पर संयम होता हे, तब मनुष्य प्रसन्नचित्त होता है और प्रसन्नचित्त होने का लाभ है– सारे दुःखों का नाश और बुद्धि की स्थिरता। प्रसन्नचित्त व्यक्ति के सारे क्लेश नष्ट हो जाते हैं और मन पवित्र होने से उसकी बुद्धि शान्त और स्थिर रहती है।[2]

1. वर्ण

वेदों में 'वर्ग' शब्द के रूप में वर्णों का उललेख मिलता है, किन्तु उनके अधिकारों और कर्तब्यों के विषय में कुछ नहीं कहा गया है। यह विषय ब्राह्मणग्रन्थों से आरम्भ हुआ और धर्म सूत्रों तथा स्मृतियों में इस पर विस्तार पूर्वक विचार किया गया है। व्यक्ति और उसके सामाजिक सको सुद्ढ़ बनाये रखने के लिए वर्णों की ब्यवस्था की गयी। व्यक्ति और समूह के अस्तित्व को मानव जगत् में ही नहीं देवलोक में भी स्वीकार किया गया। ताण्ड्य ब्राह्मण में मनुष्य को देवताओं का ग्राम (समूह) कहा गया हें मनुष्य को देवताओं का ग्राम इसलिए कहा गया हे कि उसमें ऋषि, पितर, देव, असुर और गनधर्व आदि के अंश विद्यमान हैं। इसी समन्वय के कारण ही उसे सामाजिक प्राणी कहा गया है।

वर्ण व्यवस्था का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है।

वर्णों का स्वरूप :

वर्ण शब्द की निष्पत्ति वरणार्थक वृण् धातु और प्रेरणार्थक 'वर्ण' धातु दोनों से है। प्राकृतिक तथा भौतिक दोनों अवस्थाओं में वर्ण शब्द इन दोनों अर्थों को द्योतित करता है। जहॉ तक वर्णों की उत्पत्ति का प्रश्न है, उसका सर्वसम्मत निष्कर्ष निकालना प्रायः असम्भव है। श्रुतियों एवं परवर्ती वैदिक ग्रन्थों, स्मृति–पुराणों में जो उल्लेख देखने को मिलता है, उनके आधार पर वर्णों की उत्पत्ति के आधार का पता लगाया जा सकता है। ऋग्वेद के पुरूष सूक्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को क्रमशः परमेश्वर के मुख, बाहु, जॉघ और पैर से उत्पन्न बताया गया है।[6] इससे यह स्पष्ट होता है कि वर्ण–ब्यवस्था का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद से ही प्राप्त होता है।

वैदिक वाड्.मय में चारों वर्णों की उत्पत्ति का जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, उसका एकमात्र प्रजापति आधार होने पर भी स्वरूपतः वे भिन्न–भिन्न है। अग्नि, इन्द्र, विश्वेदेव और पूषा, इन चारों प्राणों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों की उत्पत्ति हुई। उस दृष्टि से ब्राह्मण वर्ण आत्मा स्वरूप अग्नि प्रधान हुआ। इसमें तीनों प्राणों की न्यूनता और अग्नि प्राण की प्रधानता रहती है। ब्राह्मण के लिए वेद मन्त्र में 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग मिलता है।[7] तेजस्विता, सहिष्णुता, स्वच्छता, बुद्धि की निर्मलता, सौहार्द्र, वाक्पटुता और शान्ति ब्राह्मण के सहज धर्म माने गये हैं। यद्यपि ब्रह्म शब्द से बहुधा स्तुति, प्रार्थना का भी अर्थ ग्रहण हुआ है। 'ब्रह्म' और 'क्षत्र' क्रमशः स्तुति और शक्ति के बोधक माने जाते हैं

अथर्ववेद में 'क्षत्र' को शक्ति का बोधक माना गया है।[8] वेदों मे क्षत्रिय के लिए 'राजन्य' शब्द का प्रयोग भी विहित है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी इसका इसी अर्थ मे प्रयोग हुआ हैं। क्षत्रिय को क्रियामय वर्ण माना गया है।

वर्णों के विभाजन का आधार-

वर्णों के विभाजन जन्म के आधार पर हुआ या कर्म के आधार पर, इस सम्बन्ध में अनेक मत–मतान्तर हैं। वैदिक वाड्.मय के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि आर्य जाति के लोग अनार्यों में परिणत होते गये। ऐतरेय ब्राह्मण में एक वृतान्त मिलता है कि– एक बार ऋषि विश्वामित्र ने अपने पचास पुत्रों को

यह आदेश दिया कि वे शुनःशेप को अपना भाई स्वीकार करें, किन्तु उनके पुत्रों ने उनकी बात को नहीं माना। इससे क्रुद्ध होकर ऋषि विश्वामित्र ने अपने सभी पुत्रों को अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द और मूतिव जातियों में पतित हो जाने का शाप दे डाला। ये सभी जातियॉ दस्यु अर्थात् अनार्य थीं। मनुस्मृति2 में भी संस्कारच्युत अनेक आर्य जातियों का अनार्य जातियों में पतित हो जाने का उललेख मिलता है। इनको मनु ने पतित 'ब्रात्य' की संबा दी है। मनु ने इन पतित ब्रात्यों के साथ अध्यापन, विवाह आदि सम्बन्धों का भी निषेध किया है।

चतुर्वण्य के विषय में बहुधा यह स्थिति देखने को मिलती है। उसका आधार कर्म है। श्रुतियों में चतुर्वण्य के विषय में जो विभाजन देखने को मिलता है, उसका आधार कर्म एवं ब्यवसाय है। श्रीमद्भगवद्गीता में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि स्वभावतः उत्पन्न गुणों के अनुसार कर्मों का विभाजन किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है, उसके अन्तःकरण में उस कर्म के संस्कार पड़ते हैं और उन संस्कारों के अनुसार उनका स्वभाव बनता है। इस प्रकार पहले के अनेक जन्मों में किये हुए कर्मों के संस्कारों के अनुसार उसमें सत्व, रज और तम तीनों गुणों की वृत्तियॉ उत्तपन्न होती हैं। आरम्भिक वैदिक काल में ब्राह्मण और क्षत्रिय के कर्मों में समानता दिखलायी पड़ती है। उदाहरणार्थ देवापि और शान्तनु की कथा को इस प्रकार दर्शाया जा सकता है। ये दोनों ऋषि पुत्र थे। देवापि बड़ा और शान्तनु छोटा था। नियमतः देवापि को उत्तराधिकार से राजा होना चाहिए, किन्तु वह राजत्व स्वीकार न करके ब्रह्मज्ञानी बना। शान्तनु राजा हुए। उसके पापाचरण के कारण राज्य में अकाल पड़ गया, जिसके निवारणार्थ ब्रह्मज्ञानी देवापि ने यज्ञ किया। इस यज्ञ में देवापि शान्तनु का पुरोहित बना। इस ऋचा से यह बात स्पष्ट हो जाती है उस युग में एक ही पिता के दो पुत्रों में से एक क्षत्रिय और दूसरा ब्राह्मण हो सकता था।

इस प्रकार वैदिक युगीन वर्णब्यवस्था की एक मर्यादा थी, इसलिए कि चरित्र का गठन हो, किन्तु ब्यक्ति का आचारिक, वैचारिक, व्यावहारिक तथा व्यावसायिक उन्नति या प्रगति में कोई बाधा नहीं थी। अपनी आत्मोन्नति का सबको समान अधिकार था।

ब्रह्म व्यवस्था के सम्बन्ध में उक्त तथ्यों के विचारोपरान्त यह कहा जा सकता है कि वैदिक काल में वर्ण विभाजन का आधार कर्मणा था, जन्मना नहीं।

संदर्भः

यजु0 36/3, 3/35, 22/9, 30/2; ऋ0 3/62/10
ऋ0 6/52/5
गीता 2/64, 65
अमरकोष
तै0 ब्रा0 1/2/6
ऋ0 10/90/12
शत0 ब्रा0 14/4/2
मनुस्मृति 4/147